Sanvahak, Vol.-2; Issue-1 (Jan.-March) 2026 : PP-100-105

Sanvahak (संवाहक)

A Peer Reviewed, Multidisciplinary (All Subjects) & Multilingual (All Languages) Quarterly Research journal

ISSN : 3108-1347 (Online)

Vol.-2; Issue-1 (Jan.-March) 2026

Page No.- 100-105

©2026 **Sanvahak**

https:// sanvahak.gyanvividha.com

Author's:

Monika parihar

PhD ongoing, Department of Hindi, Saurashtra university rajkot (Gujrat).

Corresponding Author :

Monika parihar

PhD ongoing, Department of Hindi, Saurashtra university rajkot (Gujrat).

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में भाषा, प्रतिरोध और अस्मिता का स्वर

सारांश : हिन्दी दलित आत्मकथाएँ केवल निजी जीवन-वृत्त नहीं हैं; वे भारतीय समाज की जातिगत संरचना, सत्ता-संबंधों, अपमान की भाषिक रचना और मनुष्यत्व की पुनर्स्थापना का सशक्त अभिलेख हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में जूठन, अपने-अपने पिंजरे, दोहरा अभिशाप, तिरस्कृत, मेरा बचपन मेरे कंधों पर और मुर्दहिया जैसी प्रतिनिधि कृतियों के आधार पर यह विवेचन किया गया है कि दलित आत्मकथाओं में भाषा महज़ संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि स्मृति, प्रतिकार और अस्मितामूलक पुनर्जन्म की सक्रिय शक्ति है। इन आत्मकथाओं में जातिसूचक संबोधन, लोकभाषा, देह-आधारित अनुभव, भूख, श्रम, विद्यालय, पानी, विवाह, स्त्री-अनुभव और सामाजिक बहिष्कार—सभी भाषा में एक वैकल्पिक इतिहास के रूप में रूपायित होते हैं। शोध का निष्कर्ष यह है कि हिन्दी दलित आत्मकथाएँ हिन्दी गद्य को नई भाषिक ऊर्जा, नया सौन्दर्यबोध और न्यायमूलक वैचारिक दिशा प्रदान करती हैं; इनके भीतर प्रतिरोध और अस्मिता एक-दूसरे से अलग न होकर भाषा के स्तर पर ही निर्मित होते हैं। (वाल्मीकि, 1997; नैमिशराय, 2008; बैसन्त्री, 1999; तुलसीराम, 2010)।

मुख्य शब्द : दलित आत्मकथा, भाषा, प्रतिरोध, अस्मिता, स्वानुभूति, लोकभाषा, दलित स्त्री-अनुभव, हिन्दी साहित्य ।

परिचय : हिन्दी दलित आत्मकथा ने हिन्दी साहित्य में उस जगह से बोलना शुरू किया, जहाँ सदियों तक दलित जीवन को दूसरों की दृष्टि से देखा, लिखा और व्याख्यायित किया गया, पर स्वयं दलित व्यक्ति को अपनी पीड़ा, स्मृति और संघर्ष कहने का अधिकार नहीं मिला। इस विधा का महत्व केवल इसलिए नहीं है कि यह किसी व्यक्ति के जीवन की कथा प्रस्तुत करती है, बल्कि इसलिए है कि इसमें व्यक्ति का "मैं" अपने साथ पूरे समुदाय का ऐतिहासिक अनुभव लेकर उपस्थित होता है। यह "मैं" अकेला, निजी और आत्मलीन नहीं है; इसमें बस्ती की गंध, श्रम की थकान, भूख की यातना, जातिगत अपमान, शिक्षा की आकांक्षा और

मनुष्यता की खोज एक साथ बोलती है। इसलिए दलित आत्मकथा आत्मप्रकाशन से अधिक सामाजिक अभिलेखन की विधा बन जाती है। यहाँ जीवन-कथा, जाति-कथा और समाज-कथा एक-दूसरे में गुंथी हुई मिलती हैं।, (ठाकुर, 2010)।

हिन्दी दलित आत्मकथा की परंपरा में ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन, मोहनदास नैमिशराय की अपने-अपने पिंजरे, कौशल्या बैसन्त्री की दोहरा अभिशाप, सूरजपाल चौहान की तिरस्कृत, श्यौराज सिंह बेचैन की मेरा बचपन मेरे कंधों पर और तुलसीराम की मुर्दहिया जैसी कृतियाँ विशेष महत्व रखती हैं। इन रचनाओं में दलित जीवन केवल करुणा का विषय नहीं बनता, बल्कि वह अपनी भाषा में अपनी सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करता है। स्कूल, गाँव, मुहल्ला, सार्वजनिक जलस्रोत, विवाह-समारोह, दफ्तर, जातिसूचक गाली, श्रम का अपमान और शिक्षा की इच्छा—ये सभी प्रसंग आत्मकथा में व्यक्तिगत अनुभव की तरह आते हैं, पर उनका अर्थ व्यापक सामाजिक संरचना से जुड़ जाता है। इसीलिए दलित आत्मकथा में स्मृति केवल अतीत की याद नहीं, बल्कि प्रतिरोध की वैचारिक भूमि है। (चौहान, 2002; बेचैन, 2009)।

"भाषा, प्रतिरोध और अस्मिता" को हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अलग-अलग तत्वों की तरह नहीं पढ़ा जा सकता। भाषा यहाँ केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है; वह अपमान को दर्ज करने, चुप्पी को तोड़ने और असमानता की संरचना को उजागर करने का औज़ार है। दलित आत्मकथाकार मानक, संस्कारित और अभिजात हिन्दी के भीतर अपनी लोकभाषा, जातिगत अनुभव और सामाजिक यथार्थ को प्रवेश कराता है। इसी से उसकी भाषा में खुरदरापन, तीखापन और सच की बेचैनी आती है। यह भाषा सौन्दर्य के परंपरागत मानकों को चुनौती देती है और बताती है कि साहित्य का सौन्दर्य मनुष्य की गरिमा से अलग नहीं हो सकता। दलित आलोचना भी यही मानती है कि दलित साहित्य की शक्ति उसके भोगे हुए यथार्थ, स्वानुभूति और सामाजिक न्याय की चेतना में निहित है। (वाल्मीकि, 2001; मीणू, 2010)।

इस शोधपत्र में हिन्दी दलित आत्मकथाओं को साहित्यिक दृष्टि से पढ़ते हुए यह समझने का प्रयास किया गया है कि इन रचनाओं में भाषा किस प्रकार प्रतिरोध का रूप ग्रहण करती है और प्रतिरोध किस प्रकार अस्मिता की नयी जमीन तैयार करता है। दलित आत्मकथा इस अर्थ में हिन्दी साहित्य को केवल नया विषय नहीं देती, बल्कि भाषा, अनुभव और सौन्दर्यबोध की एक नयी दिशा भी प्रदान करती है।

सैद्धान्तिक ढाँचा और शोध-विधि : यह अध्ययन मुख्यतः पाठाधारित साहित्यिक विश्लेषण पर आधारित है। इसका सैद्धान्तिक आधार अम्बेडकरवादी सामाजिक न्याय-दृष्टि, दलित सौन्दर्यशास्त्र, स्वानुभूति की अवधारणा और भाषा के समाजशास्त्रीय अध्ययन से निर्मित है। अम्बेडकरवादी दृष्टि इस शोध को जाति-व्यवस्था, सामाजिक बहिष्कार, समानता और आत्मसम्मान के प्रश्नों को समझने की वैचारिक भूमि देती है। दलित सौन्दर्यशास्त्र यह स्पष्ट करता है कि दलित साहित्य का मूल्यांकन केवल पारंपरिक रस, अलंकार या शिल्प के आधार पर नहीं किया जा सकता; उसे भोगे हुए यथार्थ, सामाजिक पीड़ा, प्रतिरोध और मनुष्य की गरिमा के संदर्भ में पढ़ना आवश्यक है। (भारती, 2004)।

इस शोध में स्वानुभूति को केंद्रीय आलोचनात्मक उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है, क्योंकि हिन्दी दलित आत्मकथाएँ बाहर से देखे गए जीवन की नहीं, भीतर से भोगे गए अनुभवों की रचनाएँ हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, कँवल भारती की दलित साहित्य की अवधारणा और दलित विमर्श की भूमिका, हरिनारायण ठाकुर की दलित साहित्य का समाजशास्त्र तथा रजत रानी मीनू की हिन्दी दलित कथा-साहित्य: अवधारणाएँ और विधाएँ इस अध्ययन की आलोचनात्मक पृष्ठभूमि निर्मित करती हैं। इन कृतियों के आधार पर आत्मकथा को केवल निजी जीवन-वृत्त नहीं, बल्कि जाति-समाज, भाषा और अस्मिता के संघर्षशील दस्तावेज के रूप में पढ़ा गया है। (भारती, 2006; मीनू, 2010; वाल्मीकि, 2010)।

शोध-विधि के स्तर पर चयनित आत्मकथाओं—जूठन, अपने-अपने पिंजरे, दोहरा अभिशाप, तिरस्कृत, मेरा बचपन मेरे कंधों पर और मुर्दहिया—का निकट-पाठ किया गया है। इनमें प्रयुक्त जातिसूचक शब्दावली, लोक-बोलियाँ, अपमानजनक संबोधन, प्रतिरोधी वक्तव्य, स्त्री-अनुभव, शिक्षा-संबंधी प्रसंग और आत्मनामकरण की प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार यह शोध साहित्यिक पाठ, समाजशास्त्रीय संदर्भ और वैचारिक विमर्श—इन तीनों को एक साथ रखकर हिन्दी दलित आत्मकथाओं में भाषा, प्रतिरोध और अस्मिता के स्वर को समझने का प्रयास करता है। (वाल्मीकि, 1997; नैमिशराय, 2008; तुलसीराम, 2010)।

चर्चा एवं विश्लेषण

भाषा की साक्षी और विघटनकारी शक्ति : दलित आत्मकथाओं की भाषा मानक, मर्यादित, संस्कारित और सौन्दर्य-प्रेमी हिन्दी के विरुद्ध कोई अराजक हस्तक्षेप नहीं है; वह उस सामाजिक यथार्थ की अनिवार्य अभिव्यक्ति है, जिसे शिष्ट साहित्य ने लंबे समय तक या तो छिपाया या रूपायित करके निष्प्रभावी बनाया। मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं—"जाति पहले आती थी, स्कूल बाद में"; इस छोटे-से वाक्य में पूरी भारतीय सामाजिक संरचना का निचोड़ है, जहाँ संस्थान से पहले जाति बोलती है। आत्मकथा की यही भाषा शिक्षा, सार्वजनिक जीवन और सामाजिक संबंधों के भीतर छिपे जाति-तंत्र को उजागर करती है। इसलिए दलित आत्मकथाओं की भाषिक खुरदुराहट दरअसल अनुभव की प्रामाणिकता है, शैलीगत दोष नहीं। दलित सौन्दर्यशास्त्र का आग्रह भी इसी बिंदु पर है कि सामाजिक यथार्थ से कटी हुई भाषा साहित्यिक नहीं रह जाती, केवल सजावटी रह जाती है। (तुलसीराम, 2010)।

इन आत्मकथाओं की भाषा का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह जातिसूचक अपमान को जस-का-तस दर्ज करके उसके सांस्कृतिक हिंस्र रूप को बेनक़ाब करती है। सूरजपाल चौहान के यहाँ अध्यापक कहता है—"यदि देश के सारे चूहड़े-चमार पढ़-लिख गए..."; यह कथन केवल व्यक्तिगत घृणा नहीं, बल्कि ज्ञान पर सामाजिक पहरेदारी का वक्तव्य है। तुलसीराम के यहाँ "चमरकिट" जैसी गाली विद्यालयी अनुशासन का हिस्सा बन जाती है; अपमान यहाँ पाठ्यपुस्तक से बाहर नहीं, बल्कि शिक्षा-तंत्र के भीतर है। श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा यह दिखाती है कि अपमान केवल सवर्ण-दलित संबंध में नहीं, दलित समुदाय के भीतर की ऊँच-नीच में भी सक्रिय है। इस अर्थ में दलित आत्मकथाओं की भाषा गालियों, तानों और संबोधनों के माध्यम से उस समाज का छिपा हुआ शब्दकोश सामने रखती है, जिसकी सभ्यता स्वयं अपनी हिंसा को छिपाती रही है। (चौहान, 16)।

फिर भी इन आत्मकथाओं की भाषा केवल यातना का रिकॉर्ड नहीं है; वह लोकजीवन, बोली, लय और दृश्य-संवेदना की ऐसी रचनात्मकता भी समेटे है, जो हिन्दी गद्य को नए बिम्ब देती है। तुलसीराम "उस अकाल का यह एक अनोखा सौन्दर्य था" लिखते हैं; यहाँ भूख और सौन्दर्य साथ-साथ उपस्थित हैं। यह सौन्दर्य किसी रोमानी दृष्टि का परिणाम नहीं, बल्कि पीड़ा के भीतर संवेदना की जिजीविषा का प्रमाण है। श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा में ग्राम्य-जीवन, घरेलू संवाद, स्त्री-स्वर और जातिगत संबोधन लोकबोली की समूची ध्वन्यात्मकता के साथ आते हैं। इस आंचलिक और लोक-आधारित भाषिक संरचना से दलित आत्मकथा हिन्दी को उसकी खोयी हुई सामाजिक बहुभाषिकता लौटाती है। यहाँ भाषा विश्वविद्यालयों से कम, जीवन से अधिक सीखती है। (बेचैन, 62, 185)।

प्रतिरोध के रूपाकार : दलित आत्मकथाओं में प्रतिरोध प्रायः किसी बड़ी राजनीतिक घोषणा से नहीं, बल्कि बोलने, नाम लेने और चुप्पी तोड़ने से शुरू होता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जब लिखते हैं—"एक झूठ को हमने संस्कृति मान लिया था", तो वे केवल एक अंतरजातीय प्रसंग का वर्णन नहीं कर रहे होते; वे उस पूरी संरचना पर प्रहार कर रहे होते हैं जिसने झूठी श्रेष्ठता को संस्कृति और दलित अस्तित्व को अपराध में बदल दिया। कौशल्या बैसन्त्री का स्वर भी इसी प्रतिरोधी मुद्रा में उभरता है, जब वे जातिगत अपमान का उत्तर देते हुए कहती हैं—"अब आप से दबकर नहीं रहेंगे।" यह उत्तर निजी साहस का नहीं, आत्मसम्मान की वैचारिक उपलब्धि का परिणाम है। दलित आत्मकथा की एक बड़ी

विशेषता यही है कि वह रोदन को प्रतिवाद और स्मृति को प्रतिकार में रूपांतरित करती है। (बैसन्त्री, 64)।
प्रतिरोध का एक दूसरा रूप रोज़मर्रा की उन जगहों पर दिखाई देता है जिन्हें सामान्यतः साधारण माना जाता है—स्कूल, पानी, श्रम, वस्त्र, भोजन, आवागमन। नैमिशराय के यहाँ शिक्षक की फटकार—"अबे तुमसे पढ़ने के लिए कौन कहता है"—दलित बच्चे को उसके 'नियत' पेशे में बाँध देना चाहती है। चौहान की आत्मकथा में पानी का प्रसंग याद दिलाता है कि लोकतांत्रिक भारत में भी सार्वजनिक पानी मनुष्य की बराबरी का नहीं, जाति की अनुमति का विषय बनाया गया। इसलिए जब स्त्री-चरित्र कहता है—"चलो, ये पानी नहीं जहर है"—तो वह सामाजिक संबंधों की अमानुषिकता को पहचान चुका होता है। दलित आत्मकथाओं का प्रतिरोध इसी पहचान से जन्म लेता है कि अपमान कोई अपवाद नहीं, व्यवस्था है; और व्यवस्था का उत्तर व्यवस्था-भेदी चेतना से ही संभव है। (ठाकुर, 2010)।

दलित स्त्री-अनुभव इस प्रतिरोध को और अधिक जटिल तथा गहरा बनाता है। कौशल्या बैसन्त्री के यहाँ स्कूल, घर, प्रेम, विवाह और सामाजिक संपर्क—सभी जगह जाति और लिंग का संयुक्त दबाव सक्रिय है। उनकी हीनता की अनुभूति केवल इसलिए नहीं है कि वे दलित हैं, बल्कि इसलिए भी कि वे दलित स्त्री हैं। रजत रानी मीनू ने ठीक ही कहा है कि दलित स्त्री दोहरे-तिहरे आक्रमण झेलती है; अतः उसकी प्रतिरोधी चेतना भी बहुस्तरीय होती है। श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा में माँ का श्रम, हिंसा सहती देह और फिर भी प्रश्न पूछती आवाज़ दलित स्त्री-प्रतिरोध की एक गहरी उपस्थिति है। इस तरह हिन्दी दलित आत्मकथाओं में प्रतिरोध केवल पुरुष-नायक का राजनीतिक नैरेटिव नहीं, बल्कि स्त्री-स्वर, घरेलू जीवन और संबंधों के भीतर जन्म लेती हुई चेतना भी है। (बैसन्त्री, 41; मीनू, 2010)।

अस्मिता की पुनर्रचना : दलित आत्मकथा में "मैं" केवल निजी जीवन का सूचक नहीं है; वह एक ऐसे सामुदायिक अनुभव का प्रतिनिधि है जिसे इतिहास, धर्म, समाज और भाषा ने लंबे समय तक दबाकर रखा। इसीलिए दलित आत्मकथा आत्म-उद्धार की कथा कम और आत्म-स्वीकार की प्रक्रिया अधिक है। यहाँ लेखक अपने जीवन को केवल सफलता या संघर्ष की व्यक्तिगत कहानी के रूप में नहीं रखता, बल्कि वह यह दिखाता है कि उसका व्यक्तित्व जातिगत अपमान, श्रम, गरीबी, शिक्षा की चाह और सामाजिक बहिष्कार की जमीन पर बना है। श्यौराज सिंह बेचैन का कथन—"यह हम अछूतों के बीच की छुआछूत थी"—इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ दलित लेखक केवल बाहरी सवर्ण दमन को ही नहीं, बल्कि अपने समुदाय के भीतर उपस्थित अंतर्विरोधों को भी उजागर करता है। यह साहस अस्मिता की परिपक्वता का संकेत है। अस्मिता सत्य को छिपाने से नहीं, बल्कि उसे पहचानने और स्वीकार करने से निर्मित होती है। (बेचैन, 118; वाल्मीकि, 2001)।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के यहाँ जाति-उपनाम न छिपाने का आग्रह इसी अस्मितामूलक चेतना से जुड़ा है। वे जानते हैं कि पहचान को ढँककर प्राप्त सम्मान स्थायी नहीं हो सकता, क्योंकि वह सम्मान व्यक्ति की वास्तविक सामाजिक स्थिति को नकारने की कीमत पर मिलता है। जूठन में जाति, श्रम और अपमान की स्मृतियाँ केवल दुःख का विवरण नहीं हैं; वे उस सामाजिक व्यवस्था का उद्घाटन करती हैं जिसने मनुष्य को जन्म के आधार पर छोटा-बड़ा बनाया। इसी प्रकार मोहनदास नैमिशराय की अपने-अपने पिंजरे जाति-आधारित स्थान-निर्धारण, बस्ती, शिक्षा, श्रम और आत्मसम्मान के क्रमिक विकास को दर्ज करती है। इन आत्मकथाओं में अस्मिता कोई तैयार विचार नहीं, बल्कि अनुभवों से गुजरकर बनी हुई चेतना है। वह धीरे-धीरे भाषा में आकार लेती है और फिर प्रतिरोध का रूप धारण करती है। (भारती, 2004)।

अस्मिता की यह पुनर्रचना हिन्दी साहित्य के पारंपरिक सौन्दर्यबोध को भी चुनौती देती है। दलित आत्मकथाओं में सौन्दर्य किसी निर्मल, संतुलित और विसंगतिहीन संसार का नाम नहीं है; वह आघात, भूख, श्रम, देह, अपमान और संघर्ष के भीतर जन्म लेने वाली मानवीय जिद का नाम है। दलित आलोचना ने ठीक ही कहा है कि दलित साहित्य "नकार" का साहित्य है, पर यह नकार केवल अस्वीकार नहीं है; यह मनुष्य-विरोधी व्यवस्था के विरुद्ध नयी

मनुष्यता की खोज है। तुलसीराम की मुर्दहिया में लोकभाषा, भूख, करुणा, गीत और स्मृति मिलकर एक ऐसे संवेदनात्मक संसार का निर्माण करते हैं, जहाँ अपमान के बीच भी जीवन अपनी लय बचाए रखता है। (वाल्मीकि, 2001; रवि, 2019)।

इस प्रकार हिन्दी दलित आत्मकथाएँ हिन्दी साहित्य को केवल नयी सामग्री नहीं देतीं, बल्कि उसकी भाषा, लय, वाक्य-संरचना, भावबोध और नैतिक केंद्र को भी बदलती हैं। वे यह स्पष्ट करती हैं कि दलित अस्मिता दया की माँग नहीं करती; वह समान मनुष्यता की घोषणा करती है। इसलिए दलित आत्मकथा हिन्दी साहित्य का परिशिष्ट नहीं, उसका लोकतांत्रिक विस्तार है। (भारती, 2006; चौहान, 2002)।

परिणाम : अध्ययन से कुछ स्पष्ट निष्कर्ष सामने आते हैं। प्रथम, हिन्दी दलित आत्मकथाओं में भाषा सामाजिक यथार्थ की सबसे विश्वसनीय साक्षी है; वह अनुभव को नरम नहीं करती, बल्कि उसकी तीक्ष्णता बचाए रखती है। द्वितीय, दलित आत्मकथाओं का प्रतिरोध भाषाई स्तर पर ही आरम्भ हो जाता है—जातिसूचक संबोधनों को रजिस्टर करते हुए, लोकबोलियों को साहित्यिक वैधता देते हुए, अपने नाम और जाति को छिपाने से इंकार करते हुए। तृतीय, अस्मिता यहाँ व्यक्तिकेंद्रित नहीं है; वह सामुदायिक इतिहास, सामाजिक स्मृति और वैचारिक स्वाभिमान से निर्मित होती है। चतुर्थ, दलित स्त्री-अनुभव इस विमर्श को और अधिक जटिल बनाकर दिखाता है कि जाति और पितृसत्ता का गठजोड़ भाषा तथा अनुभव—दोनों स्तरों पर काम करता है। अंततः, हिन्दी दलित आत्मकथाएँ हिन्दी गद्य में एक वैकल्पिक सौन्दर्यशास्त्र की स्थापना करती हैं, जिसमें सत्य, संघर्ष और मनुष्यत्व कलात्मक मूल्य का हिस्सा बन जाते हैं। (मीनू, 2010; बैसन्त्री, 1999)।

निष्कर्ष : हिन्दी दलित आत्मकथाएँ उस मौन का साहित्यिक अंत हैं, जिसे जाति-व्यवस्था ने नियति बनाकर स्थापित करना चाहा था। इन आत्मकथाओं की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि वे पीड़ा को केवल दर्ज नहीं करतीं, उसे समझती हैं; अपमान को केवल सहती नहीं, उसकी भाषा का विश्लेषण करती हैं; और पहचान को केवल माँगती नहीं, उसे विचार, साहस और लेखन के बल पर अर्जित करती हैं। यहाँ भाषा सामाजिक अवशेष नहीं, प्रतिरोधी ऊर्जा है; यहाँ प्रतिरोध राजनीतिक नारा भर नहीं, रोज़मर्रा के जीवन में मनुष्य बने रहने की साधना है; और यहाँ अस्मिता व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं, ऐतिहासिक पुनर्स्मरण और सामूहिक उन्नयन की प्रक्रिया है। इसीलिए हिन्दी दलित आत्मकथाएँ हिन्दी साहित्य को अधिक लोकतांत्रिक, अधिक मानवीय और अधिक सत्यनिष्ठ बनाती हैं। वे हिन्दी को यह सिखाती हैं कि साहित्य तभी जीवित है, जब वह उस मनुष्य की आवाज़ को भी केंद्र में लाए जिसे इतिहास ने हाशिये पर धकेल रखा था। (चौहान, 2002), ।

संदर्भ सूची :

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. जूठन. राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997.
2. नैमिशराय, मोहनदास. अपने-अपने पिंजरे. भाग 1. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008.
3. बैसन्त्री, कौशल्या. दोहरा अभिशाप. परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999.
4. चौहान, सूरजपाल. तिरस्कृत. भावना प्रकाशन, गाजियाबाद, 2002.
5. चौहान, सूरजपाल. संतप्त. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006.
6. बेचैन, श्यौराज सिंह. मेरा बचपन मेरे कंधों पर. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009.
7. तुलसीराम. मुर्दहिया. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010.
8. तुलसीराम. मणिकर्णिका. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014.

9. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र. राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2001.
10. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. मुख्यधारा और दलित साहित्य. सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010.
11. भारती, कँवल. दलित साहित्य की अवधारणा. बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 2006.
12. भारती, कँवल. दलित विमर्श की भूमिका. इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004.
13. ठाकुर, हरिनारायण. दलित साहित्य का समाजशास्त्र. भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2010.
14. मीनू, रजत रानी. हिन्दी दलित कथा-साहित्य: अवधारणाएँ और विधाएँ. अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2010.
15. शर्मा, सुदेश. दलित एवं दलित साहित्य. आर्यन पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016.
16. रवि, पी., संपा. दलित साहित्य संवेदना के आयाम. वाणी प्रकाशन भारत, नई दिल्ली, 2019.

•